THE ECONOMIC TIMES

Date: 24-10-16

The jungle rules when the state bows

The government is not just an institution that allows some individuals to play leader and enjoy the perks of office.

The authority of the state is what separates order from chaos, progress from stagnation, pursuit of knowledge and civility from primitivity, and the rule of law from the maxim 'might is right'.

The Fadnavis government of Maharashtra has knuckled down under threats of violence from one political party that got all of 0.8% of the vote when it contested elections the last time around, when it colluded in postponing the release of a film opposed by the party on threat of violence. This is most unfortunate. The government has demonstrated that the threat of violence can make it bend the law of the land.

This makes room for the law of the jungle. Intolerance comes in the way of normalcy and industry — in the sense of being industrious as well as doing business — both of which are a government's job to facilitate and enhance. Ratan Tata, a fellow Mumbaikar, at a function on Sunday criticised the rise of intolerance dubbing it "a curse we are seeing of late". He is right to be concerned as a citizen as well as a businessman.

When an elected government abdicates its duty to protect citizens and their right to free expression, it helps the rise of intolerance. Of course, this is not a new phenomenon. The Congress governments of Maharashtra have traditionally allowed the Shiv Sena to take the law into its own hands. Indeed, the rise of the Sena owed to the desire of the established political parties of the state to see an external force physically break up the militant trade unions that threatened to give the state's politics a leftward tilt.

The state's patronage of the Sena's practice of physical intimidation stems from this history. Tolerance and diversity of thought and opinion are virtues in themselves in a democracy. That apart, regimentation of thought would stifle critical thinking and its permeation into the economy that leads to innovation. Endorsement of intolerance is bad politics and bad economics.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 24-10-16

सार्वजनिक बैंकों के विलय का नहीं रह गया है कोई औचित्य

सार्वजनिक बैंकों की समस्या बन चुकी गैर-निष्पादित परिसंपत्तियां (एनपीए) कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही हैं। वित्त वर्ष 2015-16 में इन बैंकों का सकल एनपीए बढ़कर 9.5 फीसदी हो गया जबकि उसके एक साल पहले यह महज 5 फीसदी था। ऐसे में आश्चर्य नहीं है कि इस मुश्किल से निकलने के लिए लगातार नए-नए विचार पेश किए जा रहे हैं। बैंक बोर्ड ब्यूरो के प्रमुख विनोद राय ने भी हाल ही में एक नया विचार रखा है। उन्होंने मुंबई स्थित दो सरकारी बैंकों का खाता दुरुस्त हो जाने के बाद दोनों का विलय करने का प्रस्ताव रखा है। उनका कहना है कि इस विलय प्रक्रिया के अच्छी तरह संपन्न हो जाने के बाद अन्य खस्ताहाल बैंकों को भी उसमें मिला देना चाहिए।

हालांकि ब्यूरो प्रमुख ने इन दोनों बैंकों के नाम नहीं बताए हैं लेकिन मीडिया रिपोर्ट के मुताबिक उनका इशारा बैंक ऑफ बड़ौदा और बैंक ऑफ इंडिया की तरफ था। वैसे अपने कुप्रबंधन के लिए मशहूर सरकारी बैंकों में बैंक ऑफ बड़ौदा की गिनती बेहतर तरीके से संचालित बैंक के रूप में होती है। काबिल प्रबंधन के चलते आम लोगों के बीच बनी बेहतर छवि इसकी सबसे बड़ी ताकत रही है। इसके बावजूद बैंक ऑफ बड़ौदा को गत वित्त वर्ष की अंतिम तिमाही में नुकसान झेलना पड़ा था। उस तिमाही में बैंक का सकल एनपीए बढ़कर 9.99 फीसदी पर पहुंच गया था जबकि उसके एक साल पहले यह महज 3.72 फीसदी रहा था। इसकी वित्तीय सेहत में गिरावट भी देखने को मिली जब इसका नुकसान 5,396 करोड़ रुपये पर पहुंच गया जबकि वित्त वर्ष 2014-15 में उसे 3,398 करोड़ रुपये का लाभ हुआ था। अगर देश के सर्वाधिक सशक्त बैंकों में गिने जाने वाले बैंक की यह हालत है तो कमजोर बताए जाने वाले बैंकों की हालत क्या होगी?

सार्वजनिक बैंकों की स्थिति सुधारने का ख्याल आते ही सरकार को विलय ही अकेला विकल्प नजर आता है। पहले ही सरकार देश के सबसे बड़े बैंक एसबीआई में उसके सहयोगी बैंकों के विलय की मंजूरी दे चुकी है। हालांकि अभी यह साफ नहीं है कि स्टेट बैंक समूह के सभी सहयोगी बैंकों के विलय से आखिर हासिल क्या होगा? इसके पहले खास तौर पर कमजोर एसोसिएट बैंकों का ही विलय होता था और वह भी अलग-अलग मामलों के आधार पर फैसला होता था।

यदि किसी छोटे बैंक की अपने परिचालन वाले इलाकों में अच्छी छवि है और वह अच्छी तरह से संचालित भी हो रहा है तो उसका किसी बड़े बैंक के साथ विलय कर देना उल्टा नतीजा भी दे सकता है। दरअसल बड़े ढांचे का हिस्सा बनने से निर्णय-निर्माण प्रक्रिया काफी धीमी हो जाती है जबकि छोटा बैंक अपने फैसले जल्द करने का आदी रहा होता है। कमजोर और

ताकतवर के विलय का तभी कोई मतलब है जब कमजोर संगठन को बचाने की जरूरत हो। हालांकि इस प्रक्रिया से बनी नई इकाई पहले से भी कमजोर हो जाती है। निजी क्षेत्र के बैंकों का विलय होने पर अधिकांशत: प्रबंधन में बदलाव के साथ ही खर्च बचाने की कोशिशें भी शुरू हो जाती हैं। हमें यह देखने के लिए इंतजार करना होगा कि एसबीआई और सहयोगी बैंकों के विलय के बाद ऐसा कुछ होता है या नहीं?

अगर विलय का मकसद वैश्विक स्तर पर दिखाने के लिए एक सार्वजनिक बैंक की बड़ी बैलेंस शीट हासिल करना है तो उसके लिए एक होल्डिंग कंपनी बना देने और समेकित बैलेंस शीट तैयार करने से भी बात बन सकती है। इसमें जमीनी स्तर पर निर्णय प्रक्रिया को बदलना भी नहीं पड़ेगा। विलय से एनपीए जैसी कुप्रबंधन की समस्या अपने-आप दूर नहीं हो जाती है। हां, इससे सरकार को यह कहने का मौका जरूर मिल जाएगा कि अब कमजोर बैंकों की संख्या कम हो गई है। लेकिन इसके लिए बेहतर हालत वाले बैंकों को कमजोर बैंकों का बोझ उठाना पड़ता है।

परिसंपत्ति पुनर्निर्माण के मकसद से एक खराब बैंक बनाना भी उतना ही निरर्थक है क्योंकि सभी कमजोर बैंकों के एनपीए भी स्थानांतरित हो जाएंगे ताकि वे नए सिरे से अपना काम शुरु कर सकें। अगर बैंक प्रबंधन की गुणवत्ता में कोई बदलाव नहीं होता और राजनीतिक समूह पुराने तरीके से ही सार्वजनिक बैंकों को परिचालित करते रहते हैं तो समय बीतने के साथ बैंकों के पास एक बार फिर से निकृष्ट परिसंपत्तियों का अंबार लग जाएगा।

बैंक बोर्ड ब्यूरो के प्रमुख के रूप में अभी विनोद राय जैसे सम्मानित शख्स को बैंकों के शीर्ष प्रबंधन के चयन का जिम्मा सौंपा गया है। उम्मीद है कि इससे सार्वजनिक बैंकों का नेतृत्व कहीं अधिक काबिल लोगों को मिल सकेगा। लेकिन इन बैंकों की कार्य संस्कृति बदलने में लंबा वक्त लगेगा। बैंक बोर्ड ब्यूरो गठन से बैंकों के मध्यम स्तर के प्रबंधन की निर्णय प्रक्रिया में मामूली सुधार ही देखने को मिलेगा।

सार्वजनिक बैंकों के सामने समय-समय पर पूंजी को लेकर आने वाली दिक्कतों का सरकार के सामने इकलौता समाधान यही है कि उनका निजीकरण कर दिया जाए। लेकिन इनमें से अधिकांश बैंकों का कोई खरीदार नहीं मिलेगा। देश के विकास में राष्ट्रीयकृत बैंकों की भूमिक बहुत पहले ही खत्म हो चुकी है। वित्तीय समावेशन को सार्थक तरीके से आगे बढ़ाने में ये बैंक काफी हद तक नाकाम रहे हैं। अगर आप यह कहना चाह रहे हैं कि सार्वजनिक बैंकों के निजीकरण के बाद गरीबों और वंचितों की जरूरतों का ख्याल कौन रखेगा तो बहुत छोटे स्तर के वित्तीय संस्थान और छोटे वित्त बैंक इसका जवाब हो सकते हैं। उसके लिए सरकारी नीतियों को भी विकास को प्रोत्साहित करने वाला होना चाहिए। सरकार को बड़े सरकारी बैंकों में से कुछ को सम्मानजनक तरीके से अलविदा कहने की रणनीति बनानी चाहिए। हालांकि कुछ गिने-चुने बैंकों को सार्वजनिक स्वामित्व के अधीन छोड़ देना चाहिए ताकि किसी राष्ट्रीय आपात स्थिति में वे काम आ सकें। इंदिरा गांधी ने

बैंकों का राष्ट्रीयकरण राजनीतिक कारणों से किया था। भारतीय जनता पार्टी की अगुआई वाली सरकार उनकी विरासत को खत्म करने में डरपोक तो नहीं हो सकती है।

साइबर चुनौती से बचाव

कहा जाता है कि इंटरनेट उपयोगकर्ता दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिन्हें हैक किया जा चुका है और दूसरे वे जिन्हें हैक किया जाएगा। यही वजह है कि हाल ही में 19 बैंकों के 65 लाख से अधिक डेबिट कार्ड की जानकारी हैक किए जाने की खबर एक बड़ी चेतावनी है। देश की वित्तीय व्यवस्था अभी इतनी दुरुस्त नहीं है कि सुरक्षा के पर्याप्त प्रबंध किए जा सकें और ऐसी किसी आशंका से निपटने की व्यवस्था लाई जा सके। कई एजेंसियां मामले की जांच कर रही हैं लेकिन इस नुकसान के तमाम आयाम अभी सामने नहीं आए हैं। ऐसी खबरें हैं कि इसमें चीन के हैकर शामिल हो सकते हैं। शायद लीक की शुरुआत कुछ एटीएम के हैक से हुई हो। यह भी संभव है या तो कुछ बैंकों के आंकड़े या फिर कुछ कार्ड जारी करने वालों के पेमेंट गेटवे की जानकारी उनको मिल गई हो। वरिष्ठi अधिकारियों ने बार-बार आश्वस्त किया है और संभव है कि चूक का पता लगाकर उसे दूर किया जाए। बैंक, बीमाकर्ता और अन्य वित्तीय सेवा प्रदाताओं को इस नुकसान की भरपाई करनी होगी। इस बीच पीड़ितों को असुविधा का सामना करना पड़ेगा और यह उम्मीद करनी होगी कि कहीं उन्हें वित्तीय नुकसान न उठाना पड़े।

लेकिन चिंतित करने वाली बात भी है। भविष्य में भी ऐसी घटनाएं हो सकती हैं। सवाल यह है कि ऐसा कब हो सकता है? ऐसा इसलिए क्योंकि हमारी वित्तीय व्यवस्था आपस में गहन संपर्क वाली है। कई ऐसे डाटा हैं जिनमें संवेदनशील जानकारियां हैं। 60 करोड़ से अधिक डेबिट कार्ड फिलहाल चलन में हैं। इसके अलावा 2.6 करोड़ क्रेडिट कार्ड और 13 करोड़ मोबाइल वॉलेट भी प्रचलन में हैं। ये सभी आपस में जुड़े रहते हैं और इनमें से कोई या शायद सभी जोखिम में पड़ सकते हैं। स्मार्ट फोन धारक बैंक खाताधारी यूनीफाइड पेमेंट इंटरफेस का इस्तेमाल कर सकते हैं और कई वित्तीय और निजी जानकारियां स्थायी खाता संख्या और आधार से जुड़ी हैं। ये दो ऐसे डाटाबेस हैं जो हजारों सरकारी कर्मचारियों की पहुंच में हरदम रहते हैं। इतना ही नहीं एटीएम और प्वाइंट ऑफ सेल कार्ड रीडर जैसे उपकरण भी बहुत बड़ी संख्या में चलन में हैं। लाखों लोग ऑनलाइन बैंकिंग करते हैं जबकि उनके कनेक्शन असुरक्षित होने की आशंका बनी रहती है। इतना ही नहीं उनकी फिशिंग या सोशल हैकिंग भी हो सकती है। इसके जरिये पीड़ित व्यक्ति को किसी झांसे में लेकर उससे व्यक्तिगत जानकारी निकलवाई जाती है।

विकसित देशों में जहां वित्तीय सुरक्षा तंत्र मजबूत है वहां भी अक्सर डाटाबेस को संकट में पड़ते देखा जा चुका है। इन देशों ने बचाव के तगड़े रास्ते तैयार किए हैं। डाटाबेस कुछ इस तरह तैयार किया जाता है कि अगर एक तक किसी की पहुंच हो

जाए तो भी दूसरे सुरक्षित रहें। उन देशों ने भारत से बाहर काम करने वाले कॉल सेंटर जैसी व्यवस्था बनाई है ताकि वित्तीय साइबर अपराध और पहचान चोरी को जल्दी दर्ज किया जाए। वित्तीय सेवा प्रदाता और सरकारों ने स्पष्टï प्रमाणित संचार व्यवस्था विकसित की है ताकि पीड़ितों को तत्काल जानकारी देकर उनसे पिन और पासवर्ड बदलवाए जाएं। हमारे यहां ऐसी व्यवस्थाएं नहीं हैं। मसलन डाटा सुरक्षा के लिए कोई कानून नहीं है। पैन और आधार का डाटा कितना सुरक्षित है यह स्पष्टï नहीं है। साइबर अपराध और पहचान चोरी की रिपोर्ट दर्ज करने की व्यवस्था है लेकिन उनका प्रचार नहीं हुआ है। डिजिटल इंडिया पहल पर जोर ने सरकारी सेवाओं और वित्तीय व्यवस्था को ऑनलाइन किया है जो सराहनीय है। इससे हर किसी को आसानी होती है। परंतु इससे साइबर अपराधियों को भी मदद मिलती है। मौजूदा मामले जैसे निजता भंग के मामले न केवल उपभोक्ताओं के यकीन को क्षति पहुंचाते हैं बल्कि बेहतर व्यवस्था की जरूरत भी उजागर करते हैं।

सिर्फ जुमले से नहीं सुलझेंगे पड़ोसी के साथ मसले

पाकिस्तान को अलग-थलग करने के बजाय वहां से प्रायोजित आतंकवाद का सैन्य रूप से जवाब दिया जाना चाहिए और भारत में उससे किसी भी तरह का आर्थिक लेनदेन बंद करने की सलाह दे रहे हैं ***प्रेमवीर दास***

हालिया हफ्तों में इस पर काफी चर्चा हुई है कि 'सर्जिकल स्ट्राइक' के बाद हमने पाकिस्तान को कैसे 'अलग-थलग' कर दिया। सबसे पहले तो भूटान और बांग्लादेश ने उड़ी हमले की निंदा की और फिर नियंत्रण रेखा (एलओसी) पर जवाबी कार्रवाई के मोर्चे पर हमारे सुर से सुर मिलाया। फिर श्रीलंका भी इस मुहिम में शामिल हो गया और उसने भारत के साथ ही इस साल इस्लामाबाद में प्रस्तावित दक्षेस सम्मेलन में शामिल होने में असमर्थता जाहिर की। शुरू में अनमने नजर आ रहे नेपाल को भी मजबूरी में दक्षेस का बहिष्कार करना पड़ा। ऐसे में कहा जा सकता है कि पाकिस्तान अलग-थलग पड़ गया है और कम से कम दक्षिण एशिया में तो ऐसा नजर ही रहा है। हालांकि यह अभी तक अनसुलझा सवाल है कि उड़ी हमले की तुरत कड़ी निंदा करने में पहले श्रीलंका और बाद में नेपाल इतना पीछे क्यों रह गया।

तथ्य यही है कि कुछ ही देशों ने उड़ी में हमारे सैन्य ठिकाने पर आतंकी हमले की खुले शब्दों में या इसे पाकिस्तान की ओर से किए गए हमले के रूप में भत्र्सना की, जबकि अधिकांश देश बमुश्किल सभी किस्म के आतंकवाद के संदर्भ में उसका विरोध करते दिखे। जहां तक भारत के जवाबी सैन्य हमले की बात है तो अधिकांश ने इस पर प्रतिक्रिया ही नहीं दी या फिर उसे नियंत्रण रेखा पर गोलीबारी की कार्रवाई के तौर पर ही लिया, जबकि कुछ इस पर कोई भी पक्ष लेने से बचते रहे और इस तरह उन्होंने पाकिस्तानी दावे का ही समर्थन किया। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यों में से केवल रूस ने ही आतंकी शिविरों पर भारत की जवाबी कार्रवाई का खुले तौर पर समर्थन किया। फिर भी उसने यह जरूरी नहीं समझा कि

वह पाकिस्तानी सेना के साथ आतंक विरोध के नाम पर होने वाले दो सप्ताह के युद्घाभ्यास को रद्द न करे तो कम से कम कुछ समय के लिए टाल ही दे। इससे यही नजर आता है कि पाकिस्तान आतंक का प्रायोजक नहीं बल्कि खुद उसका शिकार है।

अमेरिका ने बमुश्किल ही आतंक के खिलाफ हमारी लड़ाई को समर्थन दिया और यही सुझाया कि दोनों देशों को वार्ता की मेज पर साथ आना चाहिए। मानो जो अपराध को बढ़ावा देते हों और जो पीड़ित हों, उनके पास कहने के लिए कुछ खास होगा। ब्रिटेन और फ्रांस ने पाकिस्तान का नाम लिए बिना सामान्य संदर्भों में आतंक की मुखालफत की। इनमें से किसी भी देश ने पाकिस्तान को वैश्विक रूप से अछूत नहीं माना जैसा कि हम उसे मानकर चल रहे हैं।

चीन तो एक अलहदा श्रेणी में ही आता है और पाकिस्तान के साथ उसके रिश्ते बेहद खास हैं। पाकिस्तान की भूरणनीतिक भौगोलिक स्थिति को तो छोड़ ही दीजिए भारत के खिलाफ एक हथियार के रूप में भी पाकिस्तान की अहमियत को चीन हल्के में नहीं ले सकता। पाकिस्तान के साथ मौजूदा रक्षा सक्रियता के अलावा पाकिस्तान का अधिकांश रक्षा साजोसामान चीन से ही आता है और दोनों देशों के बीच स्पष्टï परमाणु सहभागिता है और परमाणु आयुध तकनीक के क्षेत्र में भी दोनों की जुगलबंदी जारी है।

इस गतिशीलता की अपनी अहमियत है। इस अहमियत में हाल-फिलहाल बदलाव आने की कोई संभावना भी नहीं है। चीन के राष्ट्रपति शी चिनफिंग की महत्त्वाकांक्षी परियोजनाओं में से 'वन बेल्ट, वन रोड (ओबीओआर)' बहुत अहम है, जो चीन को पूरे एशिया के साथ जोड़ देगी और इसके बुनियादी ढांचा संपर्क और रणनीतिक दोनों निहितार्थ हैं। यह सपना पाकिस्तान की भागीदारी के बिना पूरा होना संभव नहीं है। इसी कड़ी में चीन बुनियादी ढांचा विकास के लिए 46 अरब डॉलर के निवेश से चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारे (सीपीईसी) का निर्माण कर रहा है, जिसमें पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर (पीओके) में भी उद्योगों का विकास किया जाना है, जिस क्षेत्र पर हम अपना दावा करते आए हैं और यहां तक कि कुछ समय पहले चीन भी उसे विवादित क्षेत्र मानता था।

यह मार्ग ग्वादर बंदरगाह पर समाप्त हो जाता है, जो चीन को उत्तरी अरब सागर से जोड़ता है, जिसके मार्फत चीन का पश्चिम एशिया से तेल आता है। इस परियोजना की चीन और पाकिस्तान दोनों के लिए अलग-अलग कारणों से अहमियत है, जिसे कमतर करके नहीं आंका जा सकता। ग्वादर और उसका तथाकथित विकास भविष्य में चीन के स्थायी सैन्य अड्डïे का आधार बन सकता है, जो चीन-पाकिस्तान रिश्तों में एक और मजबूत कड़ी है। अपने विशालकाय पड़ोसी के साथ भारत के लगातार जुड़ाव से इस रिश्ते में सेंध लगने की सोच रखना बेमानी होगा। यह कोई हैरानी की बात नहीं कि हाल में गोवा में संपन्न ब्रिक्स देशों के सम्मेलन में जारी संयुक्त बयान में भारत के कड़े रुख के बावजूद चीन ने सीमा पार

आतंकवाद संदर्भ को जोडऩे में अड़ंगा लगा दिया। अगर यह सक्रियता और मजबूत होती है चीन की नजर में उभरते भूराजनीतिक परिदृश्य की दिशा यही होगी। मगर बात केवल इतनी ही नहीं है।

पाकिस्तान कोई छोटा अप्रासंगिक देश नहीं हैं। यह 17 करोड़ की आबादी वाला देश जमीन का ऐसा टुकड़ा भर नहीं, जिसे अलग-थलग किया जा सके। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हम खुद उसे दुष्टi या आतंकी देश नहीं करार नहीं दे पाएंगे, जिसका हमारे साथ कोई लेनादेना नहीं होगा। भारतीय टेलीविजन कार्यक्रमों या हमारी फिल्मों में पाकिस्तानी कलाकारों पर प्रतिबंध लगाना महज दिखावटी होगा और इससे सिर्फ हमारा अहम तुष्ट होगा लेकिन इससे यह उन देशों की नजरों में अलग-थलग नहीं हो जाएगा, जो लगातार इसके साथ सक्रियता से मेलजोल बढ़ाते रहेंगे। यह सच है कि हाल के वर्षों में भारतीय कूटनीति की कोशिशों के चलते कुछ पश्चिम एशियाई देशों ने हमारी संवेदनशीलताओं को समझना शुरू किया है लेकिन इसका बड़ा कारण एक आर्थिक शक्ति के रूप में भारत का उदय और उसके बाजार में मौजूद व्यापक संभावनाएं हैं और इसमें किसी तरह की अकड़ या पाकिस्तान के प्रति ठंडा रवैया नहीं है। इस्लामिक सहयोग संगठन (ओआईसी) लगातार हमारे हितों पर कुठाराघात और पाकिस्तान के हितों को पोषित करता रहा है। यह उस उकसावे पर भी शांत रहा, जिसके चलते हम कार्रवाई पर विवश हुए। ये जमीनी वास्तविकताएं हैं। लब्बोलुआब यही है कि जो देश राज्य समर्थित आतंकवाद के रूप में गैर सरकारी तत्त्व के साथ सैन्य रणनीति के साथ काम करता है, उससे निपटने में हमारे ये उपाय नाकाफी होंगे।

ऐसे में सवाल उठता है कि भारत को क्या करना चाहिए। सबसे पहले तो हमें पाकिस्तान को अलग-थलग करने का विचार छोड़ देना चाहिए, भले ही हम कूटनीतिक कोशिशों से ऐसा कर रहे हों। दूसरी बात यही कि सीमा पार से किसी भी तरह की आतंकी कार्रवाई का सैन्य जवाब दिया जाना चाहिए। तीसरा यही कि पाकिस्तान को ऐसे देश के रूप में घोषित करना चाहिए जो हमारे देश में आतंकवाद को फैलाता है और उससे सभी तरह के आर्थिक लेनदेन बंद कर देने चाहिए। चौथा कदम यही हो कि वहां राजनयिक प्रतिनिधित्व कम किया जाए और बाद में यहां भी ऐसा ही हो। पांचवां कदम यह हो कि पाकिस्तान के साथ तब तक किसी भी तरह की वार्ता शुरू नहीं करनी चाहिए जब तक कि पाकिस्तान द्वारा ऐसी प्रतिबद्घता न जताई जाए, जैसी कुछ साल पहले जनरल परवेज मुशर्रफ ने जताई थी कि पाकिस्तान भारत के खिलाफ आतंक फैलाने में अपनी जमीन का इस्तेमाल नहीं होने देगा। इस बीच वहां के कलाकारों को हमारे टेलीविजन कार्यक्रमों और फिल्मों में काम देते रहना चाहिए, जो यह दिखाएगा कि हम लोगों को लेकर तो नरम हैं लेकिन देश को लेकर नहीं। यह पिछले महीने कोझिकोड में भाजपा के कार्यक्रम में दिए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के भाषण के भी अनुरूप है। पाकिस्तान को अलग-थलग करने की लुभावनी बातें सिर्फ वैश्विक वास्तविकताओं या 'असल राजनीति' की मजबूरियों को लेकर हमारी समझ पर पर्दा डालने वाली हैं।

THE TIMES OF INDIA

Date: 24-10-16

Privy Purse Gone

SC curbs BCCI's financial powers, uncertainty over Indian cricket should end quickly now

Taking another important step towards reforming cricket's richest sporting body, Supreme Court has tightened its purse strings and appointed an independent auditor to monitor its financial bids. BCCI is now mandated to get an approval from the court-appointed Lodha panel on big ticket contracts and disbursements. This should help a reluctant BCCI to fall in line – especially as this significantly impacts its plans for a new 10-year IPL contract for media rights. The current deal ends next year and is worth $1.6 billion, while the new contract is expected to deliver up to $4 billion into BCCI's coffers.

SC is also seeking a response from ICC chairperson Shashank Manohar, to put the record straight on whether BCCI president Anurag Thakur had sought a letter from the international body to state that the appointment of a CAG nominee on BCCI's board amounted to governmental intervention. SC held the view that prima facie the BCCI president had tried to create a record to question the legitimacy of the Lodha panel recommendations after the court accepted them.

Meanwhile SC has ensured that no state unit will receive funds till they accept Lodha panel recommendations on conflict of interest, one man one post, three-year terms and a cooling period for all office-bearers. This is aimed at a grassroots change that will eventually reform BCCI's administrative setup as the cricket body is run by officials representing these state bodies. India has a packed home season with English, Bangladeshi and Australian teams scheduled to visit over the next few months. BCCI should focus on preparing a blueprint for accepting reforms rather than delaying tactics which have led to dark clouds of uncertainty over the future of Indian cricket.

Faking Nationalism

Don't punish film industry in the name of jawans, don't extort in the name of army

Petty political players act as if India is at war with Pakistani actors instead of Pakistani terrorism. This is perverse and self-defeating. We are a proudly open society and surely don't want to emulate societies where jingoist bullies have brought down the walls on art, song, debate. A vibrant diversity and creative freedom have given us a cinema industry that stands tall in the world. Caging its creative

freedom will ruin Bollywood. Surely that's not in the national interest. So when Ae Dil Hai Mushkil was threatened just because it features Fawad Khan, government's job was to unequivocally protect the film and uphold the law. It's deeply worrying that Maharashtra CM Devendra Fadnavis has instead mediated a 'settlement' forcing filmmakers to kneel to jingoist thugs.

Raj Thackeray and MNS have been at the forefront of those threatening to attack cinemas screening Ae Dil Hai Mushkil, and now they are loudly claiming victory because film producers who have already cast Pakistani artistes have been told to pay up Rs 5 crore each to the army welfare fund as 'penance'. But the army, to its great credit, has distanced itself from such mafioso nationalism. It doesn't want welfare funds from extortion or coercion.

Just as the army is no fan of unseemly politicisation of the surgical strikes, petty attacks on soft targets like actors are not its game. Its nationalism and secularism are more confident and tolerant. On the unfair targeting of soft targets, diverse observers like Mehbooba Mufti and Abhay Deol have noted that while films attract so much sound and fury, the rest of India-Pakistan business proceeds broadly unaffected. Actually over the last 12 years, trade between the two countries has grown nearly eight times – from just $345 million to $2.6 billion. Importantly, Indian exports are four to five times Pakistani imports.

Will MNS now take up cudgels against Indian businesses selling to Pakistan and creating jobs in India? It's time politicians redefined their job as improving livelihoods of people rather than engaging in fist-shaking displays of simulated patriotic fervour that hurt jobs and businesses. It doesn't demonstrate bravery of any kind to pick on soft targets. So don't punish Pakistani actors and Indian films. Don't hurt and seek to extort from but help businesses.

'We ourselves don't know what Uniform Civil Code is ... merely started an academic debate to know what people think'

The Law Commission's move on October 7 to seek public opinion on whether triple talaq should be abolished and if a Uniform Civil Code (UCC) should be enacted has triggered a national debate on minority rights though the panel emphasised that it is seeking to address social injustice rather than do away with the plurality of laws. Former Supreme Court judge and Chairperson of the 21st Law Commission ***Justice BS Chauhan*** *spoke to* ***Aarti Tikoo Singh*** *about UCC and Law Commission's thinking on it:*

What is the historical significance of UCC?

When the Constituent Assembly discussed it for the first time, many people were not agreeable to a UCC so BR Ambedkar left it for the future. That is why, in the Constitution, a specific word was used

in Article 44 (UCC): "endeavour". The Code is an aspirational idea. Most of the Directive Principles of the Indian Constitution like education, healthcare, nutrition and environment have been enforced by way of various Acts. But there is no conversation about UCC.

The Supreme Court has also been asking in several judgments why UCC has not come into existence as yet. The last judgment came in 2015 and it is in that context we got the reference to initiate a debate on it.

What does UCC mean and why does India need it?

We ourselves don't know what UCC is and what is required. At this stage, we cannot anticipate what should be its template or model, what will be acceptable to people and to what extent the government is willing to go ahead with it. We have merely started an academic debate because we want to know what people think and what they want.

Why did you choose to go to people directly?

The Commission is only a recommending body and we believe in democratic procedure. We did not want to recommend something that people do not want. After collecting feedback, we will be able to draw an inference whether the time for UCC has come or not. Our recommendations will go to a standing committee, then to Parliament and ultimately it is the government's decision whether it wants to implement it or not.

How will the Commission process massive feedback from across the country?

We have assigned staff to deal with feedback from day one. We have received thousands of letters and emails. This is not for the first time that we are conducting such an exercise. The Law Commission recently asked for opinions from all the lawyers across the country on reforms required in the Advocates Act, 1961.

But several religious minority groups have protested against the initiative on UCC.

Our recommendations will not be made on numbers alone. There will be deliberations with political and religious leaders also. I have already assured minority groups that nothing will happen without consulting them. We are not in a hurry. So i would say it is too early for anyone to protest.

Critics think the Law Commission questionnaire is loaded against only one community. Do you agree?

If there are bad customs and practices in our society, irrespective of religious community, and if people point them out, we will certainly consider them.

Are there any other customs and practices like 'Maitree Karaar' (mistress deed) among Hindus which need reform and inclusion in your questionnaire?

There are many customs across India which need to be reviewed and reformed. For example, polyandry among Hindus is probably still being practised at some places. But how does the new India look at such practices? That is something we would like to know from the people of the country.

Will UCC impinge on the fundamental right to religion?

That is the question the abrogation of triple talaq raises but it is pending in the Supreme Court. Whatever the court's decision, we will be guided and bound by it.

Do courts have the authority or power to interfere in citizens' religious practices?

Courts and governments do not have a right to interfere in citizens' religious faith. But there is a difference between religion or faith and religious practice. Practices such as untouchability, devdasi, child marriage, polygamy were bad practices in the name of religion and therefore banned by law. For 2,000 years, same-gotra marriage was prohibited but Hindu Marriage Act 1955, permitted it.

Child marriage is still rampant. So what is the purpose of reformative laws like UCC if there is hardly any enforcement?

Even if there is low enforcement of laws, the aggrieved party should always have the recourse to knock at the doors of judiciary. In the absence of law, victims have nothing to fall back on.

जागरण

Date: 24-10-16

मुश्किल हुई आसान

यह राहतकारी है कि पाकिस्तानी कलाकार वाली करन जौहर की फिल्म-ऐ दिल है मुश्किल की रिलीज को लेकर उत्पन्न संकट खत्म हो गया। यह संकट इसलिए पैदा हुआ, क्योंकि तोड़फोड़ की राजनीति के लिए कुख्यात राज ठाकरे और उनके समर्थक इस फिल्म का प्रदर्शन किसी भी कीमत पर न होने देने के लिए अड़े थे। वे ंहसा का सहारा लेने की खुली धमकी दे रहे थे। ऐसे अलोकतांत्रिक तौर-तरीके स्वीकार नहीं हो सकते और न ही किए जाने चाहिए, लेकिन इसी के साथ ऐसे तर्कों का भी एक सीमा तक ही महत्व है कि कला और खेल सीमाओं से परे हैं और वे लोगों को करीब लाते हैं। पाकिस्तान के मामले में ऐसे किसी तर्क के लिए गुंजाइश इसलिए और कम हो जाती है, क्योंकि वह नीतिगत स्तर पर सुनियोजित तरीके से भारत के खिलाफ कुटिल शत्रु की तरह व्यवहार कर रहा है। अगर कला और खेल संबंध पाकिस्तान से रिश्ते सुधारने में कामयाब हुए होते तो ऐसा न जाने कब हो गया होता। कटु सच्चाई यह है कि पाकिस्तान से तमाम क्रिकेट खेलने और वहां के ढेरों

कलाकारों के हिंदी फिल्मों में काम करने के बावजूद जैसे ही कोई आतंकी हमला होता है, मैत्री भाव और सद्भावना का लोप हो जाता है। एक अन्य कटु सच्चाई यह भी है कि जो पाकिस्तानी क्रिकेटर या कलाकार भारत में खेलने या फिर यहां की फिल्मों में काम करने को लालायित रहते हैं उनका मकसद पैसा कमाना होता है, न कि सद्भाव बढ़ाना। उड़ी में भीषण-बर्बर आतंकी हमले पर किसी पाकिस्तानी कलाकार ने संवेदना के दो शब्द बोलने जरूरी नहीं समझे और जब उनसे ऐसी अपेक्षा की गई तो वे गोलमोल बयान देकर चलते बने।

यह भी समझने की जरूरत है कि भारतीय फिल्मों में पाकिस्तानी कलाकारों को मौका इसलिए दिया जाता है ताकि उनकी भागीदारी वाली फिल्म पाकिस्तान में भी आसानी से रिलीज हो सके और इस तरह अतिरिक्त कमाई की जा सके। यह खराब बात नहीं, लेकिन यह जताने का कोई मतलब नहीं कि पाकिस्तानी कलाकारों के बिना भारतीय फिल्म उद्योग का काम नहीं चल सकता। यदि पाकिस्तानी क्रिकेटर और कलाकार सद्भावना के आकांक्षी हैं तो उन्हें खुद से यह सवाल करना होगा कि क्या यह संभव है कि पाकिस्तानी सेना तो भारत के खिलाफ छद्म युद्ध छेड़े रहे और फिर भी यहां उन्हें मान-सम्मान मिलता रहे? आखिर वे आतंकी संगठनों को संरक्षण देने के खिलाफ वैसे ही आवाज क्यों नहीं उठा सकते जैसे कई पाकिस्तानी उठा रहे हैं? इन सवालों के बावजूद इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि करन जौहर की फिल्म तब बननी शुरू हुई थी जब दोनों देशों के संबंध सामान्य थे। एक अन्य तथ्य यह भी है कि पाकिस्तानी कलाकारों को भारतीय फिल्मों में काम करने का वीजा खुद सरकार ने दिया था। ऐसे में इस फिल्म के विरोध के पर्याप्त आधार नहीं थे। किसी फिल्म को न देखने या उसका विरोध करने और उसकी रिलीज के खिलाफ जोर-जबरदस्ती का सहारा लेने में अंतर है। पता नहीं क्यों कुछ संगठन इस अंतर को भूल जाते हैं? राज ठाकरे की पार्टी को तो शायद यह पता ही नहीं कि क्या लोकतांत्रिक है और क्या अलोकतांत्रिक? यह ठीक है कि महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री के हस्तक्षेप के बाद राज ठाकरे ने इस फिल्म के उग्र विरोध का इरादा छोड़ दिया, लेकिन इस प्रकरण में उन्हें जिस तरह जरूरत से ज्यादा अहमियत मिलती दिखी वह ठीक नहीं। इस मामले को कहीं अधिक परिपक्व तरीके से सुलझाने की आवश्यकता थी। ऐसा क्यों नहीं हो सका, इस पर सभी पक्षों को विचार करना चाहिए। **[मुख्य संपादकीय]**

जनसत्ता

Date: 23-10-16

वक्त की नब्ज 'कॉलम में तवलीन सिंह का लेख : संकीर्ण देशभक्ति'

भारतीय सभ्यता को अगर पाकिस्तानी दिलों में किसी ने जिंदा रखा है तो हिंदी फिल्मों ने।

कितनी नाजुक, कितनी कमजोर होगी उन लोगों की देशभक्ति, जो मानते हैं कि करन जौहर की एक फिल्म से इस देशभक्ति को ठेस पहुंचती है। कहते तो हैं ये लोग कि 'ऐ दिल है मुश्किल' का विरोध कर रहे हैं हमारी सेना के सम्मान को ध्यान में रख कर, राष्ट्र की इज्जत रखने के लिए। उनका कहना है कि जब तक सरहद पर शहीद हो रहे हैं हमारे जवान, तब तक पाकिस्तानी अभिनेताओं को बॉलीवुड में काम करने नहीं दिया जाएगा। राज ठाकरे के 'सैनिक' निकल पड़े मुंबई की सड़कों पर सिनेमा मालिकों को डराने-धमकाने और चूंकि इन सैनिकों ने पहले भी बहुत बार सिनमा घरों में तोड़फोड़ की है, सिनेमा मालिकों ने यह फिल्म लगाने पर प्रतिबंध लगाया। दुख की बात है कि अगर अगले हफ्ते 'ऐ दिल है मुश्किल' रिलीज नहीं होती है, तो नुकसान पाकिस्तान का नहीं होगा, पाकिस्तानी अभिनेताओं का नहीं होगा। नुकसान होगा तो सिर्फ भारत का, भारतीय फिल्म उद्योग का।

भारतीय सभ्यता को अगर पाकिस्तानी दिलों में किसी ने जिंदा रखा है तो हिंदी फिल्मों ने। चाहे कितना भी तनाव हो दोनों देशों के बीच, हिंदी फिल्में पहुंच जाती हैं किसी न किसी तरह लाहौर और कराची के बाजारों में। जब प्रतिबंध लगता है इनके आयात पर, तो चुपके से आ जाती हैं पाकिस्तानी शहरों के काले बाजार में। मैं कई बार लाहौर या कराची में रही हूं, जब सीमाओं पर तनाव चरम पर था। तब भी 'लेटेस्ट' हिंदी फिल्में देखी हैं मैंने दुकानों में और हिंदी फिल्मों के गाने सुनने को मिले हैं पाकिस्तानी शादियों में। जब रामायण और महाभारत पर टीवी सीरियल बने तो इतनी लोकप्रियता मिली पाकिस्तान में इन्हें कि मेरे दोस्त बताया करते थे कि उनके बच्चे उनको अम्मी-अब्बू कहने के बदले माता-पिता कहने लगे।

ऐसा हुआ बावजूद इसके कि जिया उल-हक ने पूरी कोशिश की पाकिस्तान में अरब तहजीब और तौर-तरीके फैलाने की सत्तर-अस्सी के दशक में, इस उम्मीद से कि ऐसा करने से पाकिस्तान का रिश्ता भारत के साथ कमजोर होता जाएगा। ऐसा होने नहीं दिया बॉलीवुड ने और इसी को अंगरेजी में कहते हैं भारत का 'सॉफ्ट पावर' या उदार शक्ति। पाकिस्तानी अभिनेताओं और संगीतकारों पर प्रतिबंध लग गया अगर, तो पाकिस्तान के शासकों का फायदा होगा और भारत का नुकसान। यह बात उन लोगों को कैसे समझाई जाए, जिनका राष्ट्रवाद इतना नाजुक है कि एक फिल्म से उसको ठेस पहुंच सकती है।

मुझे इस किस्म के राष्ट्रवाद से बहुत तकलीफ होती है। राष्ट्रवाद बहुत बड़ा शब्द है। इसे छोटा करना महापाप मानती हूं और न सिर्फ इसको छोटा किया है 'ऐ दिल है मुश्किल' के विरोधियों ने, बल्कि उन्होंने भी, जिन्होंने नरेंद्र मोदी को भगवान राम के रूप में दिखाया है उन पोस्टरों में, जो उत्तर प्रदेश के शहरों में दिखने लगे हैं सर्जिकल स्ट्राइक के बाद। ऐसा करके

भारतीय जनता पार्टी के समर्थकों ने सेना का अपमान किया, क्योंकि युद्ध ऐसी चीज नहीं है, जिससे इस किस्म का घटिया राजनीतिक फायदा उठाया जाए। प्रधानमंत्री ने खुद इन लोगों को टोका, लेकिन न इनकी हरकतें कम हुईं और न ही केंद्रीय मंत्रियों ने प्रधानमंत्री की बातों को गंभीरता से लिया। रक्षामंत्री ने भी नहीं।

मनोहर परिकर ने पहले कहा कि उनकी सरकार बनने के बाद सेना को हनुमानजी की शक्ति मिली है। इसके कुछ दिन बाद इन्होंने कहा कि सर्जिकल स्ट्राइक करने की हिम्मत उनको संघ की शाखाओं से प्रेरणा लेकर मिली है। ऐसी बात करने से क्या उन भारतियों को अलग नहीं किया जा रहा है, जो न हिंदू हैं और न ही संघ के साथ उनका कोई वास्ता है? ऐसी बातें करने के बदले अच्छा होगा, अगर रक्षामंत्री हमारी सेना की शक्ति बढ़ाने पर ध्यान दें। न हमारे जवानों के पास आधुनिक हथियार हैं और न ही उनके पास आधुनिक वर्दियां हैं। आज भी हमारे सैनिक जो वर्दियां पहनते हैं, वे अंगरेजों के जमाने से चली आ रही हैं। युद्ध के तरीके बदल गए हैं, इतना कि समझना मुश्किल है कि भारतीय सेना में आधुनिकता अभी तक क्यों नहीं आई है।

हाल में एक सैनिक छावनी में जाना हुआ एक लेक्चर देने के सिलसिले में। वहां पहुंच कर हैरान हुई कि सब कुछ बिलकुल वैसा था जैसे हुआ करता था मेरे पिताजी के समय, कोई चालीस वर्ष पहले। मेरा बचपन गुजरा है बीना, अमदनगर और झांसी जैसे छोटे शहरों में, जहां सेना की छावनी शहर से अलग हुआ करती थी और जहां सेना के लिए हर सुविधा सिविल से अलग थी। अब भी ऐसा है अगर, तो इसका मतलब यही समझा जा सकता है कि परिवर्तन किसी किस्म का नहीं आया है सेना के तौर-तरीकों में। इस दौरे पर मेरी बातें हुईं सेना के कुछ वरिष्ठ अफसरों से, जिनसे मालूम हुआ कि उनको कई किस्म के परिवर्तन की जरूरत है। एक तो उनको खासी तकलीफ थी कि उनका वेतन उनकी उम्र के सरकारी अधिकारियों से बहुत कम है और उनकी पेंशन भी कम है। दूसरी उनकी शिकायत इस बात को लेकर थी कि रक्षा नीतियों में उनकी राय को अहमियत नहीं दी जाती है। सारे फैसले रक्षा मंत्रालय में होते हैं, उनको पूछे बगैर। यह भी सुनने को मिला कि नरेंद्र मोदी की सरकार से उनको बहुत उम्मीदें थीं परिवर्तन की और इस परिवर्तन के न आने से मायूसी फैलने लगी है। मेरी तरफ से रक्षामंत्री के लिए विनम्र सुझाव है कि सेना में भर्ती हर नागरिक के लिए अनिवार्य कर दी जाए। ऐसा करने से शायद मुंबई की सड़कों पर लड़ाई लड़ने वाले सैनिक सीमाओं पर लड़ने का यथार्थ समझ सकेंगे।